ग्यारहवाँ अध्याय

भारत में सांस्कृतिक विकास

(तेरहवीं सदी से पंद्रहवीं सदी तक)

तेरहवीं सदी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना को भारत के सांस्कृतिक विकास में एक नए चरण के सूत्रपात का सूचक कहा जा सकता है। भारत आने वाले तुर्क विजेता कोई अनपढ़ और बर्बर लोग नहीं थे। अपने मूल स्थान मध्य एशिया से नवीं और दसवीं सदियों में पश्चिम एशिया आकर उन्होंने उसी प्रकार इस्लाम को स्वीकार कर लिया था जिस प्रकार इसके पूर्व वहाँ से भारत आने वाले विजेताओं ने बौद्ध-धर्म और हिंदू धर्म को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने उस क्षेत्र की संस्कृति को भी शीघ्रता से ग्रहण कर लिया था। मोरक्को और स्पेन से लेकर ईरान और उसके आसपास तक फैली इस्लामी दुनिया की अरबी-फ़ारसी संस्कृति उन दिनों अपने शिखर पर थी। इस क्षेत्र के लोगों ने विज्ञान, नौमार्गदर्शन (नेविगेशन) और साहित्य के क्षेत्रों में उत्कृष्ट योगदान किया था। सो जब तुर्क लोग भारत आए तो उनके पास न केवल एक सुपरिभाषित धर्म था, जिसमें उनकी गहरी आस्था थी, बल्कि शासन कला, स्थापत्य आदि के संबंध में उनके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण भी थे। इधर भारतीयों के भी अपने प्रबल धार्मिक विश्वास और कला, स्थापत्य एवं साहित्य के संबंध में अपने दृढ़ विचार थे। सो जब इन दोनों की पारस्परिक अंत:क्रिया आरंभ हुई तो अंत में वह एक नई और समृद्ध संस्कृति के विकास में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई। लेकिन यह प्रक्रिया काफी लंबी थी, जिसमें अनेक उतार-चढ़ाव आए। जब दो पक्षों के अपने दृढ़ विचार और निश्चित दृष्टिकोण होते हैं तब उनके एक-दूसरे के संपर्क में आने पर आपस में गलतफहमी और संघर्ष की स्थिति पैदा होने की संभावना हमेशा बनी रहती है। लेकिन इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण आपसी समझ पैदा करने के लिए किए गए प्रयास थे जिनके फलस्वरूप अंत में अनेक क्षेत्रों - जैसे कला और स्थापत्य, संगीत और साहित्य, बल्कि यहाँ तक कि रीति-रिवाजों, विधि-विधानों, धार्मिक विश्वासों तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में भी समाहार की प्रक्रिया, अर्थात् एक दूसरे की विशेषताओं को ग्रहण करके उन्हें पचाने का सिलसिला आरंभ हो गया। तथापि टकराव और द्वंद्व के तत्व दोनों समुदायों में मजबूती से जमे हुए थे। इसलिए इस समाहार की प्रक्रिया में अनेक उतार-चढ़ाव आए

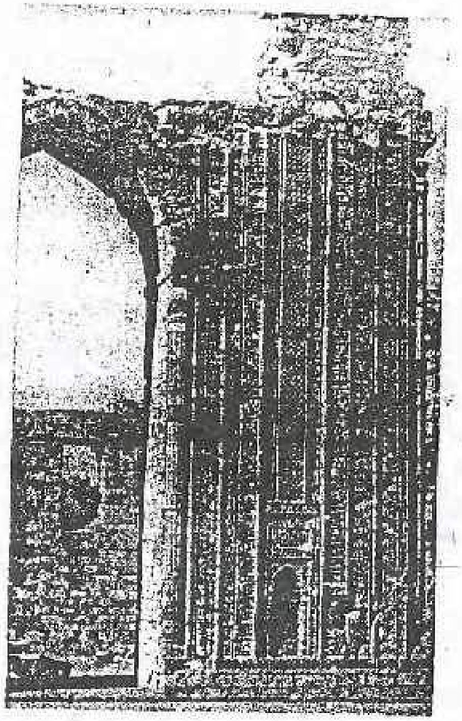

चित्र 11.1 दिल्ली स्थित कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद की एक महराब का हिस्सा

और देश के विभिन्न भागों में एवं जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों में इसके रूप अलग-अलग थे।

स्थापत्य

नए शासकों की पहली जरूरतों में एक यह थी कि उनके पास रहने के लिए घर और इबादत के लिए उपयुक्त स्थान हों। आरंभ में उन्होंने मंदिरों और दूसरी इमारतों को मस्जिदों में बदल दिया। इसके उदाहरण कुतुब मीनार के निकट कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद और अजमेर का 'अढ़ाई दिनों का झोंपड़ा' नामक इमारतें हैं। कुव्वत-उल-इस्लाम मूलत: एक जैन मंदिर था जिसे बाद में वैष्णव मंदिर के रूप में बदल दिया गया था। 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' एक मठ था। दिल्ली की मस्जिद में जो एक मात्र नया निर्माण किया गया था वह यह था कि मंदिर के गर्भगृह के सामने (जिसे जाहिरन तोड़ दिया गया था) नक्काशियों से भरपूर तीन मेहराबों की आड़ खड़ी कर दी गई। इन मेहराबों की सजावट के लिए जिस शैली का इस्तेमाल किया गया है वह काफी दिलचस्प है। उनमें किसी भी मानव या पशु-पक्षी की आकृति का इस्तेमाल नहीं

किया गया क्योंकि ऐसा करना इस्लाम के खिलाफ होता। इसके बदले उनमें बेल-बूटों और कुरान की आयतों को एक-दूसरे से अत्यंत कलात्मक ढंग से गूँथ दिया गया। लेकिन बहुत जल्द ही तुर्कों ने अपनी अलग इमारतें बनवानी शुरू कर दीं। इस प्रयोजन के लिए उन्होंने ज्यादातर ऐसे कारीगरों का – जैसे संग-तराशों, राजों आदि का-इस्तेमाल किया जो अपने कौशल के लिए विख्यात थे। बाद में कुछ सिद्धहस्त वास्तुकार पश्चिमी एशिया से भारत में आए। अपनी इमारतों में तुर्कों ने मेहराबों और गुंबदों का भरपूर प्रयोग किया। न तो मेहराबों की और न गुंबदों की ही ईजाद तुर्कों या मुसलमानों ने की थी। अरबों ने बैजंतिया साम्राज्य के जरिए उन्हें रोम से सीखकर उनका विकास करके अपना बना लिया था।

मेहराबों और गुंबदों के इस्तेमाल के कई लाभ भी थे। गुंबद इमारत की ऊपरी छटा को निखारता था। वास्तुकार ज्यों-ज्यों अनुभव और आत्म विश्वास प्राप्त करते गए, गुंबदों की ऊँचाई बढ़ती गई। वर्गाकार इमारत पर गोल गुंबद बनाने और उसे अधिकाधिक ऊँचा उठाने के कई प्रयोग किए गए। इस प्रकार अनेक गगनचुंबी और भव्य इमारतें बनवाई गईं। मेहराबों और गुंबदों के कारण छत को सहारा देने के लिए बड़ी संख्या में खंभों की जरूरत नहीं रह गई थी और अब एक छोर से दूसरे छोर तक साफ दिखाई देने वाले बड़े-बड़े कक्ष बनाए जाने लगे। इस तरह के कक्ष मस्जिदों और राजमहलों के लिए बहुत उपयोगी थे जहाँ लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे होते थे। लेकिन मेहराब और गुंबद बनाने के लिए चिनाई के मजबूत साधन की जरूरत थी अन्यथा पत्थर अपनी जगह टिके नहीं रह पाते। तुर्क लोग अपनी इमारतों में उच्च कोटि के हल्के गारे का इस्तेमाल करते थे। इस प्रकार तुर्कों के आगमन के बाद उत्तर भारत में स्थापत्य के नए रूपों और उच्च कोटि के गारे का इस्तेमाल व्यापक रूप से होने लगा।

मेहराब और गुंबद की जानकारी भारतीयों को भी थी लेकिन वे उनका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर नहीं करते थे। इसके अलावा उन्होंने मेहराब बनाने के सही वैज्ञानिक तरीके का इस्तेमाल शायद ही कभी किया हो। भारतीय सामान्यतः जिस युक्ति का प्रयोग करते थे वह यह थी कि वे एक पत्थर पर दूसरा पत्थर कुछ बाहर की ओर निकाल कर इस तरह जोड़ते जाते थे कि बीच का अंतराल कम होता चला जाता था और अंत में जो थोड़ा अंतराल बच जाता था उस पर ढक्कन के तौर पर एक पत्थर डाल देते थे या पत्थर की पटियों पर शहतीर डाल देते थे। तुर्क शासकों ने अपनी इमारतों में गुंबद और मेहराब पद्धति तथा लिंटल और शहतीर पद्धति दोनों का इस्तेमाल किया।

ऊपर जिक्र किया जा चुका है कि सजावट के मामलों में तुर्कों ने धार्मिक कारणों से मानव आकृतियों या पशु-पक्षियों की आकृतियों के इस्तेमाल से परहेज किया। इसकी बजाय वे ज्यामितिक और फूलों के डिजाइनों का प्रयोग करते थे और उन्हें कुरान की आयतों से बनाए गए चारखानों (पैनल) में कलात्मक रीति से मिला देते थे। इस प्रकार अरबी लिपि अपने-आप में एक कलाकृति बन गई। इन सजावटी युक्तियों के संयोग को अरेबेस्क कहा जाता था। उन्होंने घंटी, स्वस्तिक, कमल आदि हिंदू प्रतीकों का भी निस्संकोच इस्तेमाल किया। इस प्रकार, भारतीयों की तरह तुर्क भी सजावट के बहुत प्रेमी

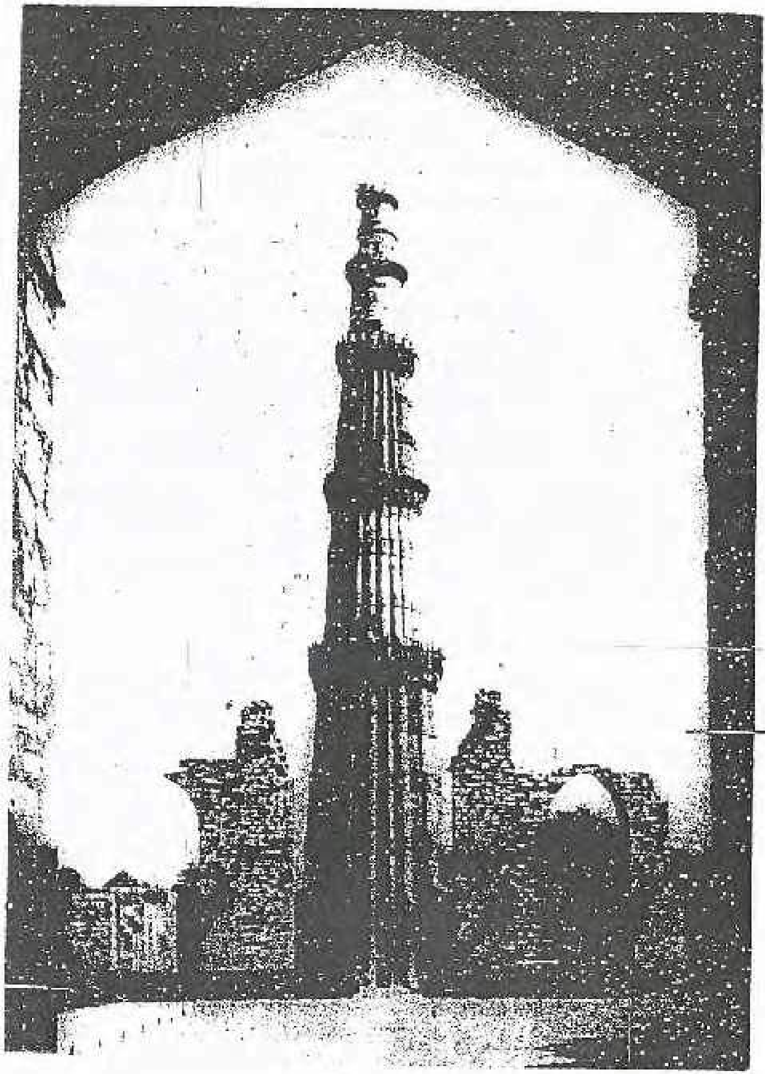

चित्र 11.2 कुतुब मीनार, दिल्ली

निकले। इस उद्देश्य से भारतीय संग-तराशों के कौशल का पूरा इस्तेमाल किया गया। दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट बने इल्तुतमिश के छोटे-से मकबरे की दीवारों पर इतनी बारीकी से नक्काशी की गई कि उनमें एक वर्ग इंच जगह भी खाली नहीं है। बलुई पत्थरों का इस्तेमाल करके तुर्कों ने अपनी इमारतों को अलग-अलग रंगों की छटा भी प्रदान की। इन इमारतों में सजावट के लिए पीले बलुई पत्थरों या संगमरमर का इस्तेमाल किया गया ताकि लाल बलुई पत्थरों का रंग निखर कर सामने आए।

तुर्कों द्वारा तेरहवीं सदी में किया गया सबसे शानदार निर्माण कुतुबमीनार थी। ऊपर को उठती हुई और परिधि से कम होती गई इस मीनार को दिल्ली के लोकप्रिय सूफी संत कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की स्मृति में बनवाया गया था। यह मीनार मूलतः 710.4 मीटर ऊँची थी। यद्यपि मीनारें बनवाने की परंपराएँ भारत और पश्चिम एशिया दोनों क्षेत्रों में मौजूद थीं तथापि कुतुबमीनार कई तरह से अद्वितीय है। मुख्य रचना से संबद्ध रखते हुए छज्जों को बाहर निकालने का तरीका, चारखानों (पैनलों) और शीर्षस्थ हिस्सों में लाल और सफेद बलुई पत्थरों तथा संगमर्मर का इस्तेमाल और धारीदार छवि, ये इस मीनार की ऐसी विशेषताएँ हैं जो खास तौर से प्रभावित करती हैं।

खलजी काल में काफी इमारतें बनवाई गईं। अलाउद्दीन ने अपनी राजधानी सीरी में बनवाई जो कुतुबमीनार के इलाके से कुछ किलोमीटर दूर पड़ता है लेकिन दुर्भाग्यवश इस नगर का अब कोई अवशेष नहीं बचा है। अलाउद्दीन ने कुतुबमीनार से दुगनी ऊँची एक मीनार बनवाने की भी योजना बनाई लेकिन उसे पूरा करने के लिए जिंदा नहीं रहा। अलबत्ता कुतुबमीनार में उसने एक प्रवेश द्वार अवश्य जोड़ दिया। अलाई दरवाज़ा के नाम से ज्ञात इस द्वार के मेहराब बहुत आकर्षक लगते हैं। इसमें एक गुंबद भी है जो वैज्ञानिक पद्धति से बनवाया गया सही पहला गुंबद है। इस प्रकार इस समय तक भारतीय कारीगरों ने वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार मेहराब और गुंबद बनाने के कौशल में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली थी।

तुगलक शासनकाल में, जो दिल्ली सल्तनत के चरमोत्कर्ष के साथ ही उसके पतन की शुरुआत का भी काल था, भवन-निर्माण की गतिविधियों में बहुत तेज़ी आ गई। गियासुद्दीन और मुहम्मद तुगलक ने तुगलकाबाद का विशाल किला बनवाया जिसमें राजमहल और अन्य बहुत-सी इमारतें शामिल थीं। यमुना के बहाव को रोक कर उसके चारों ओर एक विशाल कृत्रिम झील बनवाई गई। गियासुद्दीन का मकबरा स्थापत्य में एक नई प्रवृत्ति की शुरुआत का सूचक है। इमारत की ऊपरी छवि को निखारने के लिए उसे एक ऊँचे चबूतरे पर खड़ा किया गया। संगमरमर के गुंबद ने उसकी सुंदरता में चार चाँद लगा दिए।

तुगलक स्थापत्य की एक प्रमुख विशेषता ढालू दीवारें है। इससे इमारत के मजबूत और ठोस होने का एहसास होता है। लेकिन फिरोज़ तुगलक की इमारतों में हमें ढालू दीवारें देखने को नहीं मिलतीं। फिरोज़ स्थापत्य की एक अन्य विशेषता यह थी कि इसमें जानबूझ कर मेहराब तथा लिंटल-शहतीर सिद्धांतों के संयुक्त प्रयोग का प्रयत्न किया गया। फिरोज़ तुगलक की इमारतों में यह बात खास तौर से देखने को मिलती है। हौजखास में, जो एक

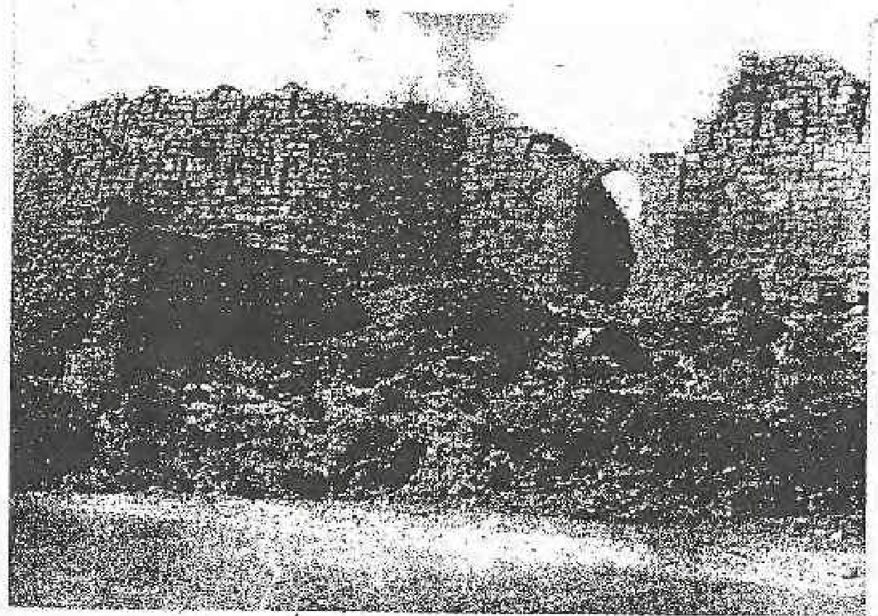

चित्र 11.3 तुगलकाबाद किले के प्रवेश-द्वार का एक दृश्य

आमोद-प्रमोद का स्थल था और जिसके चारों ओर विशाल झील थी, एक मंज़िल में मेहराबों का इस्तेमाल किया गया है तो दूसरी में लिंटल-शहतीर पद्धति का। फिरोज़शाह के नए किले में भी जो कोटला के नाम से प्रसिद्ध है, यह बात देखने को मिलती है। तुगलक सुल्तानों ने अपनी इमारतों में आम तौर पर कीमती बलुई पत्थरों का इस्तेमाल नहीं किया। इसकी बजाय उन्होंने सस्ते और आसानी से उपलब्ध भूरे पत्थरों का उपयोग किया। चूँकि इस तरह के पत्थरों में नक्काशी करना आसान नहीं था, इसलिए तुगलककालीन इमारतों में कम-से-कम सजावट दिखाई देती है। लेकिन फिरोज़ तुगलक की सभी इमारतों में सजावट के लिए कमल का इस्तेमाल किया गया है।

इस काल में बहुत-सी सुंदर मस्जिदें भी बनवाई गईं। उन सबका वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस काल तक भारत में स्थापत्य की अपनी एक अलग शैली विकसित हो चुकी थी जिसमें तुर्कों द्वारा अपने साथ लाई गई अनेक युक्तियों का देसी पद्धतियों के साथ सुंदर संयोग किया गया था। लोदियों की इस परंपरा में मेहराबों तथा लिंटल-शहतीरों – दोनों का प्रयोग हुआ है। इसके अलावा गुजराती, राजस्थानी शैली के छज्जों, छतरियों और गुमटों का भी इस्तेमाल हुआ है। लोदियों ने जो एक और तरीका अपनाया वह यह था कि उन्होंने अपनी इमारतें, खासकर

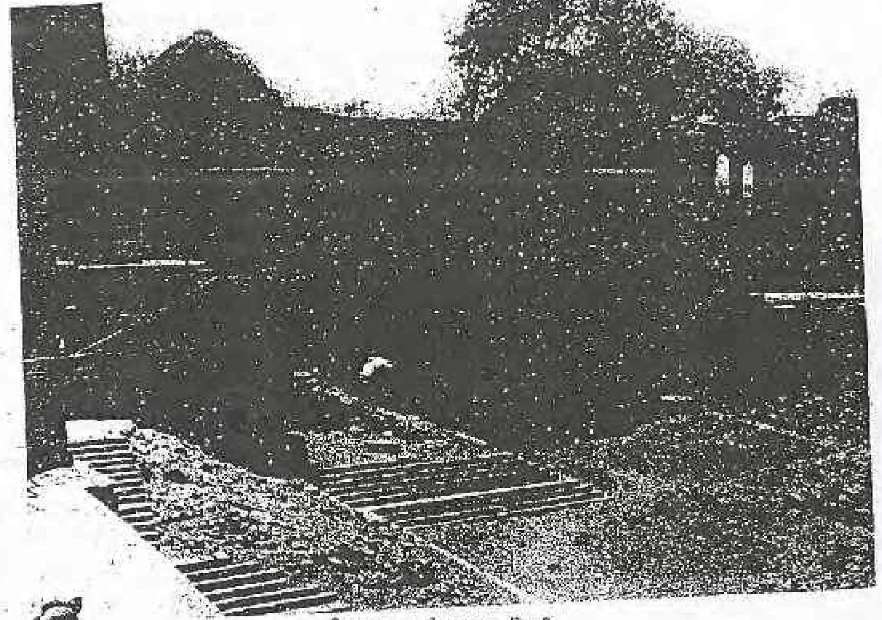

चित्र 11.4 हौज़ खास, दिल्ली

मकबरे, ऊँचे चबूतरों पर खड़ी कीं जिनसे वे देखने में विशाल लगती हैं और ऊपर से उनकी सुंदरता भी उभरती है। कुछ मकबरे बगीचों के बीच में बनवाए गए। दिल्ली का लोदी उद्यान इसका एक नमूना है। कुछ मकबरे अष्टभुजाकार थे। इनमें से बहुत-सी विशेषताओं को बाद में मुगलों ने भी अपनाया और इनकी चरम परिणति शाहजहाँ द्वारा बनवाए गए 'ताजमहल' के रूप में हुई।

दिल्ली सल्तनत के बिखरते-बिखरते भारत के विभिन्न भागों के अनेक राज्यों में भी स्थापत्य की अलग-अलग शैलियों का विकास हो चुका था। इनमें से भी अनेक शैलियों पर स्थापत्य की स्थानीय परंपराओं का प्रबल प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, बंगाल, गुजरात, मालवा, दकन आदि में ऐसा ही हुआ।

संक्षेप में भवन-निर्माण के क्षेत्र में बहुत तेजी से काम किए गए और देश के विभिन्न भागों में स्थापत्य की अनेक शैलियों का विकास हुआ। तुगलकों द्वारा चौदहवीं और पंद्रहवीं सदियों में दिल्ली में विकसित स्थापत्य शैली को विभिन्न राज्यों ने आगे बढ़ाया और उसमें परिवर्तन तथा सुधार किए।

धार्मिक विचार और विश्वास

जब तुर्कों ने उत्तर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की उस समय इस्लाम भारत के लिए कोई

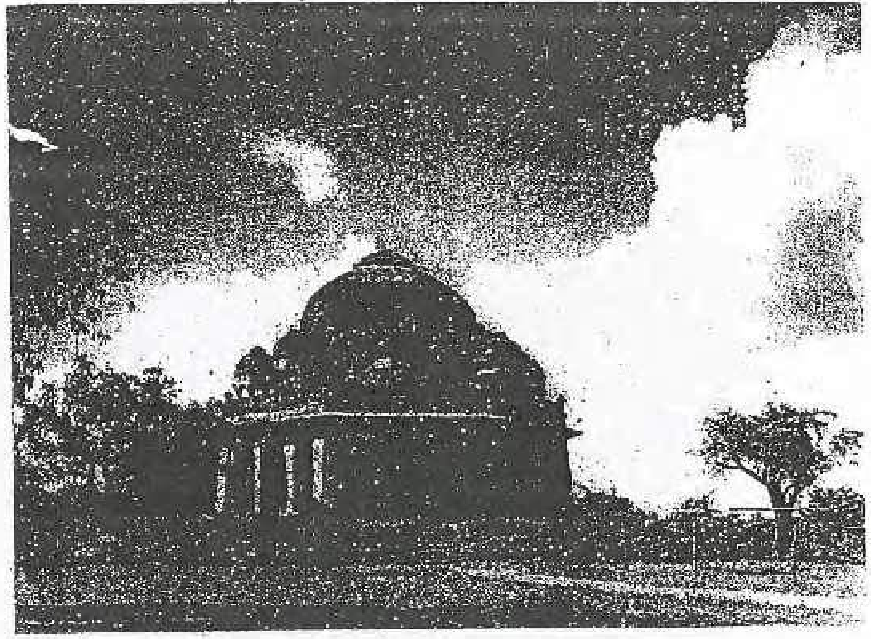

चित्र 11.5 लोदी काल का एक मकबरा

अपरिचित धर्म नहीं था। सिंध में आठवीं सदी से और पंजाब में दसवीं सदी से इस्लाम स्थापित था। आठवीं और दसवीं सदियों के बीच केरल में अरब व्यापारी बस गए थे। अरब यात्रियों और सूफी संतों ने भारत के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। अलबरूनी की पुस्तक किताब-उल-हिंद के ज़रिए हमें ज्ञात होता है कि पश्चिम एशिया के पढ़े-लिखे लोग हिंदू विचारों और विश्वासों से परिचित हो चुके थे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बौद्ध जन-श्रुतियों, भारतीय नीतिकथाओं और खगोलविज्ञान तथा आयुर्विज्ञान-संबंधी रचनाओं का अनुवाद अरबी में किया जा चुका था। भारतीय योगी पश्चिम एशिया की यात्राएँ किया करते थे। इस्लामी चिंतन पर बौद्ध तथा वेदांती विचारों का प्रभाव विद्वानों के बीच काफी बहस का विषय रहा है। अफगानिस्तान और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में, खास तौर से व्यापारिक मार्गों के आसपास प्राप्त बौद्ध विहारों, स्तूपों तथा बुद्ध की प्रतिमाओं के अवशेषों से इन क्षेत्रों में बौद्ध प्रभाव के विस्तार का पता चलता है। भारतीय दार्शनिक विचारों का ठीक-ठीक किस हद तक प्रभाव पड़ा, यह बताना तो कठिन है, परंतु इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि जब इस्लामी दर्शन स्वरूप ग्रहण कर रहा था उस दौर में यूनानी और भारतीय - दोनों विचारों ने उसमें

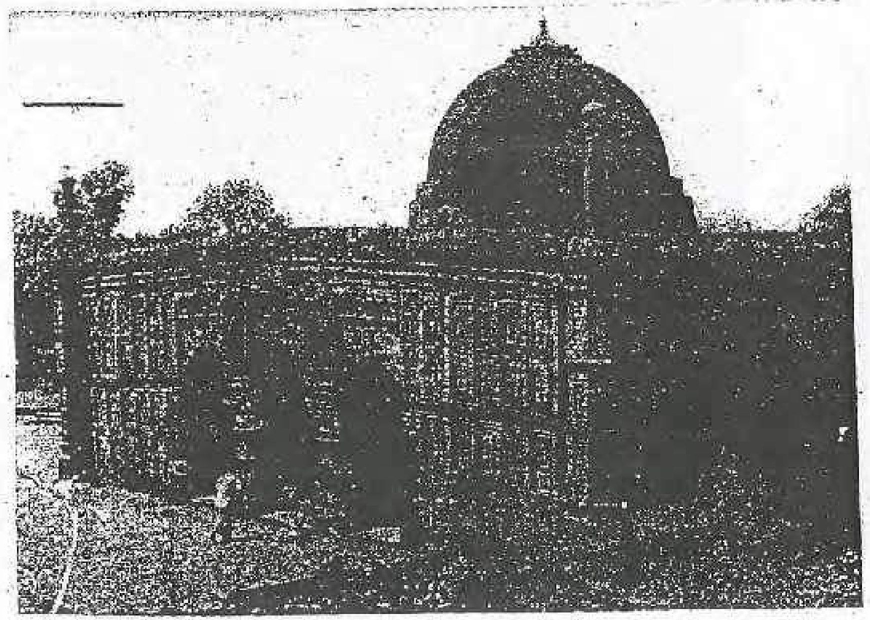

चित्र 11.6 कदम रसूल मस्जिद, गौड़

निश्चित योगदान किया। इन विचारों ने सूफ़ी आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि का काम किया। बारहवीं सदी के बाद भारत में अपनी जड़ें जमाने के पश्चात् इस आंदोलन ने मुसलमानों तथा हिंदुओं दोनों को प्रभावित किया और इस प्रकार दोनों के लिए एक सामान्य समन्वयक मंच प्रस्तुत किया। तथापि, विद्वानों का मत है कि इसमें संदेह कि प्रारंभिक सूफ़ियों ने विभिन्न भारतीय आचार-व्यवहारों से, जिनमें यौगिक आचार भी शामिल थे, बहुत-कुछ ग्रहण किया और उन्हें अपनी विचारधारा में पचा लिया, परंतु उनकी विचारधारा की बुनियादी संरचना इस्लामी ही रही।

सूफ़ी आंदोलन

दसवीं सदी कई कारणों से इस्लाम के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस सदी में अब्बासी ख़िलाफ़त के ध्वंसावशेषों पर तुर्कों का उदय हुआ और साथ ही विचारों और विश्वासों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी घटित हुए। इस सदी में मुताज़िला या बुद्धिवादी दर्शन का बोलबाला ख़त्म हो गया तथा कुरान तथा हदीस (मुहम्मद और उनके साथियों से संबंधित परंपराओं) पर आधारित रूढ़िवादी विचार धाराओं और सूफ़ी रहस्यवादी पंथ का उदय हुआ। 'बुद्धिवादियों' पर शंकावाद और नास्तिकता फैलाने

का आरोप लगाया गया। ख़ास तौर से उनका एकतावादी दर्शन, जिसमें अल्ला और उसके द्वारा बनाई गई दुनिया को मूलभूत रूप से एक माना जाता था, इस आधार पर इस्लाम में विरोधी करार दिया गया कि वह स्रष्टा और सृष्टि के बीच के अंतर को मिटा देता है।

"परंपरावादियों" के कृतित्वों ने इस्लामी कानून की चार धाराओं के रूप में स्पष्ट रूप ग्रहण किया। इनमें से सबसे उदार हनीफ़ी धारा थी और इसी को पूरबी तुर्कों ने अपनाया और यही तुर्क बाद में भारत आए।

सूफ़ी कहे जाने वाले रहस्यवादियों का उदय इस्लाम में बिलकुल प्रारंभिक अवस्था में ही हो चुका था। इनमें से अधिकांश गहरी श्रद्धा वाले लोग थे। इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद धन-संपत्ति का जैसा कुरूप प्रदर्शन किया जा रहा था और नैतिक मूल्यों में जैसी गिरावट आ गई थी उसे देखकर इनका मन वितृष्णा से भर जाता था। इसलिए ये संत राज्य से कोई नाता नहीं रखना चाहते थे। यह परंपरा बाद में भी कायम रही। कुछ सूफ़ियों ने, जैसे महिला रहस्यवादिनी राबिया (आठवीं सदी) और रहस्यवादी मंसूर बिन हल्लाज (दसवीं सदी) ने ईश्वर और जीवात्मा को एक-दूसरे से जोड़ने वाले तत्व के रूप में प्रेम पर बहुत ज़ोर दिया। लेकिन उनके इस सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण ने उन्हें रूढ़िवादी तत्वों के मुकाबले में खड़ा कर दिया और इन तत्वों ने मंसूर को मौत की सज़ा दिलाने में कामयाबी हासिल की। इसके बावजूद आम मुसलमानों में रहस्यवादी विचार फैलते रहे।

अल-गज़्ज़ाली ने (मृत्यु : 1112 ई.), जिसका आदर रूढ़िवादी और सूफ़ी दोनों करते हैं, रहस्यवाद और इस्लामी रूढ़िवादिता में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की, और बहुत हद तक वह इस कोशिश में कामयाब भी रहा उसने "बुद्धिवादी" दर्शन पर एक और आघात करते हुए समझाया कि अल्ला और उसकी ख़ूबियों की सच्ची अनुभूति बुद्धि से नहीं, बल्कि सिर्फ़ संबुद्धि यानी, इलहाम से ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार इलहामी ग्रंथ कुरान रहस्यवादियों के लिए सबसे महत्व की चीज़ था।

इस समय के आसपास सूफ़ी 12 पंथों या सिलसिलों में संगठित थे। हर सिलसिले का नेतृत्व आम तौर पर एक प्रसिद्ध सूफ़ी संत करता था जो पीर कहलाता था और अपने शिष्यों या मुरीदों के साथ ख़ानकाह अर्थात् आश्रम में रहता था। पीर और मुरीदों का संबंध सूफ़ी धर्मव्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग था। हर पीर अपने काम को आगे जारी रखने के लिए अपना एक उत्तराधिकारी या वली चुनता था।

सूफ़ियों के संत-संगठन और उनके कुछ आचारों, जैसे तप, उपवास, प्राणायाम आदि के मूल में कुछ विद्वान बौद्ध और हिंदू यौगिक प्रभाव की प्रेरणा मानते हैं। इस्लाम के उदय के पूर्व बौद्ध धर्म मध्य एशिया में व्यापक रूप से प्रचलित था और एक संत पुरुष के रूप में बुद्ध की गाथा इस्लामी गाथाओं में भी शामिल हो गई थी। इस्लाम के उदय के बाद भी योगी लोग पश्चिम एशिया की यात्रा करते रहे थे और यौगिक पुस्तक अमृत-कुंड का अनुवाद संस्कृत से फ़ारसी में हो चुका था। इस प्रकार, मालूम होता है, हिंदू और बौद्ध आचार-व्यवहारों को सूफ़ियों ने भारत आने से पूर्व ही ग्रहण करके पचा लिया था। बौद्ध तथा वेदांती

दार्शनिक विचारों ने सूफी मत पर खास प्रभाव डाला या नहीं, इस पर विद्वानों में विवाद है। विचारों के मूल का पता लगाना कठिन काम है। सूफी संत और बहुत से आधुनिक विचारक सूफी मत का मूल कुरान में ढूँढते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जिसका मूल चाहे जो रहा हो, ईश्वर, आत्मा तथा भौतिक तत्व के पारस्परिक संबंधों के विषय में सूफियों तथा हिंदू योगियों और रहस्यवादियों के विचारों में बहुत-सी समानताएँ थीं। इससे आपसी सहिष्णुता और समझ के लिए एक आधार तैयार हुआ। उस काल के एक प्रमुख फ़ारसी कवि सनाइ की कविता में सूफीमत की मानवीय भावना की बहुत अच्छी अभिव्यक्ति हुई है :

> "धर्म और अधर्म, दोनों उसी (ईश्वर) की ओर भागे जा रहे हैं, और (एक साथ) घोषणा कर रहे हैं : वह (ईश्वर) एक है और उसके राज्य में कोई हिस्सेदार नहीं है।"

सूफी सिलसिलों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है - बा-शरा, अर्थात् जो इस्लामी कानून (शरा) का पालन करते थे, और बे-शरा, अर्थात् जो शरा से बँधे हुए नहीं थे। दोनों प्रकार के सिलसिले भारत में प्रचलित थे। बे-शरा सिलसिलों का अनुशासन घुमक्कड़ संत अधिक करते थे। यद्यपि इन संतों ने किसी सिलसिले की स्थापना नहीं की, तथापि उनमें से कुछ काफी लोकप्रिय हुए, हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के बीच।

चिश्ती और सुहरावर्दी सिलसिले

बा-शरा सिलसिलों में से केवल दो को तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में उत्तर भारत में यथेष्ट प्रभाव और बड़ी संख्या में अनुगामी प्राप्त हुए। ये थे चिश्ती और सुहरावर्दी सिलसिले। भारत में चिश्ती सिलसिले की स्थापना ख़्वाज़ा मुईनुद्दीन चिश्ती ने की थी, जो पृथ्वीराज चौहान की पराजय और मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद 1192 ई. में भारत आया था। कुछ समय तक लाहौर और दिल्ली में रहने के बाद अंत में वह अजमेर चला गया। उन दिनों अजमेर एक महत्वपूर्ण राजनीतिक केंद्र था जहाँ मुसलमानों की अच्छी खासी आबादी हो गई थी। उसके कार्यकलाप का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। उसने कोई पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन मालूम होता है, उसके उत्तराधिकारियों की प्रसिद्धि के साथ-साथ उसकी भी ख़्याति बढ़ती गई। शेख़ मुईनुद्दीन (मृत्यु: 1235 ई.) के मुरीदों में बख़्तियार काकी और काकी का मुरीद फरीदुद्दीन गंज-ए-शकर शामिल थे। फ़रीदुद्दीन की गतिविधियों के केंद्र हाँसी और अजोधन (क्रमशः आधुनिक हरियाणा और पंजाब) थे। दिल्ली में उसका बहुत आदर था और वह जब भी दिल्ली आता था, उसके पास लोगों का ताँता बँध जाता था। उसका दृष्टिकोण इतना उदार और जीव-दया की भावना से ओतप्रोत था कि उसके कुछ छंदों को सिखों के आदि-ग्रंथ में भी शामिल कर लिया गया।

लेकिन चिश्ती संतों में सबसे प्रसिद्ध निज़ामुद्दीन औलिया और नासिरुद्दीन चिराग़-ए-देहली थे। ये आरंभिक सूफीसंत निम्न वर्गों के लोगों के साथ निस्संकोच मिलते-जुलते थे। ऐसे लोगों में हिंदू भी शामिल थे। ये सादगी का जीवन व्यतीत करते थे और लोगों से उन्हीं की बोली हिंदवी या हिंदी में बात करते थे। धर्मांतरण में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी, यद्यपि बाद में अनेक परिवारों और

समूहों ने अपने धर्मांतरण को इन संतों की "शुभेच्छाओं से प्रेरित" बताया। इन संतों ने गायन के जरिए, जिसे "समा" कहा जाता था, लोकप्रियता अर्जित की। यह गायन ऐसी चित्त-वृत्ति की सृष्टि करने में सहायक होता था जिसमें ईश्वर से सान्निध्य की अनुभूति होती थी। इसके अलावा वे गायन के लिए अक्सर हिंदी छंद चुनते थे, क्योंकि इस तरह वे श्रोताओं को अधिक प्रभावित कर सकते थे। निज़ामुद्दीन औलिया यौगिक प्राणायाम भी करता था और इसमें वह इतना पारंगत था कि योगी लोग इसे 'सिद्ध पुरुष' कहा करते थे।

चौदहवीं सदी के मध्य में नासिरुद्दीन चिराग़-ए-देहली की मृत्यु के बाद दिल्ली में चिश्तियों की कोई बड़ी हस्ती नहीं रह गई थी। फलतः इस सिलसिले के लोग यहाँ से बिखर गए और अपने संदेश का प्रचार-प्रसार भारत के पूर्वी और दक्षिणी हिस्सों में करने लगे।

सुहरवर्दियों ने भारत में लगभग उसी समय प्रवेश किया था जब चिश्तियों ने किया था, परंतु उनकी गतिविधियाँ मुख्य रूप से पंजाब और मुल्तान तक सीमित थीं। इस सिलसिले के सबसे प्रसिद्ध संत शेख़ शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी और हमीदुद्दीन नागौरी थे। चिश्तियों के विपरीत सुहरवर्दी संत ग़रीबी का जीवन बिताने में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने राज्य की सेवा स्वीकार की और उनमें से कुछ लोग मज़हबी विभाग में ऊँचे पदों पर थे। दूसरी ओर चिश्ती संत राज्य की राजनीति से अलग रहना ही पसंद करते थे और शाहों तथा अमीरों की संगति से दूर रहते थे। लेकिन दोनों ने ऐसा वातावरण तैयार किया जिसमें अलग-अलग धर्मों के लोग आपस में शांति-सुलह से रह सकते थे और इस तरह दोनों ने अपने-अपने ढंग से समकालीन शासकों की मदद की।

भक्ति आंदोलन

ईश्वर और जीव की रहस्यवादी एकता पर ज़ोर देने वाला भक्ति आंदोलन भारत में तुर्कों के आगमन के बहुत पहले से ही काम कर रहा था। यद्यपि भक्ति के बीज वेदों में ही देखे जा सकते हैं तथापि पहले के काल में उस पर ज़ोर नहीं दिया गया था। मालूम होता है, साकार या सगुण ईश्वर की भक्ति की कल्पना का विकास बौद्ध धर्म की बढ़ती लोकप्रियता के साथ हुआ। ईस्वी सन् की प्रारंभिक सदियों के दौरान महायान बौद्ध मत में बुद्ध की पूजा अवलोकित या कृपालु के रूप में की जाने लगी। लगभग इसी समय विष्णु की उपासना का भी विकास हुआ। गुप्त काल में रामायण और महाभारत जैसे बहुत से धर्म ग्रंथों का पुनर्लेखन किया गया तथा ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को भी मोक्ष के मान्य मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया।

लेकिन भक्ति का असली विकास सातवीं और बारहवीं सदियों के बीच दक्षिण भारत में हुआ। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, शैव नयनारों तथा वैष्णव अलवारों ने बौद्ध और जैन धर्मों की तपश्चर्या की शिक्षा को अस्वीकार करके मोक्ष के मार्ग के रूप में ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने जाति-प्रथा को अस्वीकार कर दिया और स्थानीय भाषाओं का उपयोग करके ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत प्रेम तथा भक्ति का संदेश दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में फैलाया।

यद्यपि दक्षिण और उत्तर भारत के बीच

संपर्क के अनेक बिंदु थे तथापि भक्त संतों के विचार बहुत धीरे-धीरे एक लंबे अर्से के दौरान उत्तर भारत में पहुँचे। विचित्र संयोग था कि जो बात, अर्थात् भक्त संतों द्वारा अपने संदेश के संप्रेषण के लिए स्थानीय भाषाओं का प्रयोग, दक्षिण भारत में भक्ति के त्वरित प्रचार में सहायक हुई वही बात उत्तर में उसके प्रचार में बाधक हुई। देश में विचारों की वाहक अब भी संस्कृत भाषा ही थी। भक्ति के विचारों को उत्तर ले जाने का काम विद्वानों और संतों दोनों ने किया। इनमें महाराष्ट्रीय संत नामदेव के नाम का उल्लेख किया जा सकता है जिसका जीवनकाल चौदहवीं सदी का पूर्वार्ध था। इसी तरह इस सिलसिले में हम रामानंद का भी नाम ले सकते हैं जिनका जीवन-काल चौदहवीं सदी का उत्तरार्ध और पंद्रहवीं सदी का प्रथम चरण था। नामदेव दर्जी था जो संत बनने से पहले लुटेरे का जीवन बिताता था। मराठी में लिखी उसकी कविताएँ ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति से ओत-प्रोत हैं। कहते हैं, नामदेव ने दूर-दूर तक यात्राएँ की थीं और दिल्ली में सूफी संतों के साथ उसका संलाप भी हुआ था। रामानुज के अनुगामी रामानंद का जन्म प्रयाग में हुआ था और उसने प्रयाग के अलावा काशीवास भी किया था। उसने विष्णु के स्थान पर राम की उपासना का प्रवर्तन किया। इससे भी बड़ी बात यह थी कि उसने भक्ति का उपदेश चारों वर्णों के लोगों को दिया और विभिन्न जातियों के लोगों के एक रसोईघर के अपना खाना पकाने और साथ बैठकर खाने पर लगे निषेध को मानने से इनकार कर दिया। उसने सभी जातियों के लोगों को, जिनमें निम्न जातियों के लोग भी शामिल थे, अपना शिष्य बनाया। उसके शिष्यों में रविदास, कबीर, सेना और सधन भी शामिल थे। इनमें से पहला चमार, दूसरा जुलाहा, तीसरा नाई और चौथा कसाई था। नामदेव ने भी अपने शिष्य बनाने में ऐसी ही उदारता का परिचय दिया।

जो बीज इन संतों ने बोए उन्हें फूलने-फलने के लिए बहुत उर्वर भूमि मिली। राजपूत राजाओं की पराजय तथा तुर्क सल्तनत की स्थापना के बाद ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों का ह्रास हुआ था। फलत: जाति प्रथा और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती देने वाले नाथपंथ जैसे आंदोलन काफी लोकप्रिय हो गए थे।

इसी समय सूफी संतों ने इस्लाम के समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत का प्रचार किया। लोग अब पुराने धर्म से संतुष्ट नहीं थे। वे ऐसा धर्म चाहते थे जो उनकी बुद्धि और भावना – दोनों को तुष्ट कर सके। इन्हीं कारणों से पंद्रहवीं तथा सोलहवीं सदियों में भक्ति आंदोलन लोकप्रिय हुआ।

जो लोग तत्कालीन समाज-व्यवस्था के सबसे प्रबल आलोचक थे और जिन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता की जोरदार हिमायत की उनमें कबीर और नानक के नाम अग्रणीय हैं। कबीर से संबंधित तिथियों और उसके आरंभिक जीवन के बारे में बहुत अनिश्चितता है। कथा यह है कि वह एक विधवा ब्राह्मणी का पुत्र था जिसने जन्म होते ही उसका त्याग कर दिया था और उसका लालन-पालन एक जुलाहे ने किया। उसने अपने पालक पिता के पेशे को सीख लिया, लेकिन अपने काशीवास के दौरान वह हिंदू और मुसलमान – दोनों समुदायों के संतों के संपर्क में आया। कबीर का जीवन-काल आम तौर पर पंद्रहवीं सदी माना जाता है। उसने ईश्वर

के एकत्व पर ज़ोर दिया और उसे अनेक नामों से संबोधित किया – जैसे राम, हरि, गोविंद, अल्ला, साईं, साहिब आदि। उसने मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत, गंगादि-स्नान, नमाज और अजान, सब पर तीव्र प्रहार किया। संत जीवन जीने के लिए वह गार्हस्थ्य जीवन के त्याग को जरूरी नहीं मानता था। यद्यपि वह यौगिक आधारों से परिचित था, तथापि वह सच्चे ज्ञान के लिए न तो संन्यास को जरूरी मानता था और न किताबी ज्ञान को। जैसा कि आधुनिक इतिहासकार ताराचंद कहते हैं : "कबीर का उद्देश्य प्रेम-धर्म की शिक्षा देना था जिससे सभी जातियों और धर्मों में एकता स्थापित हो। हिंदुत्व और इस्लाम की जो विशेषताएँ इस भावना के विरुद्ध थीं और जो व्यक्ति के आध्यात्मिक कल्याण के लिए महत्वपूर्ण नहीं थीं उन्हें उसने अस्वीकार कर दिया।" कबीर ने जाति-प्रथा की, खास तौर से अस्पृश्यता की, तीव्र आलोचना की। मनुष्य की मूलभूत एकता पर बल देते हुए उसने मानव जाति के बीच धर्म या जाति, नस्ल या परिवार अथवा संपत्ति के आधार पर किए जाने वाले क्रूर भेदभाव का प्रबल विरोध किया। उसकी सहानुभूति निश्चित रूप से गरीबों के प्रति थी जिनके साथ उसने अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया था। परंतु वह कोई समाजसुधारक नहीं था, बल्कि उसका जोर गुरु के मार्गदर्शन में व्यक्ति के सुधार पर था।

सिख धर्म की शिक्षाओं के स्रोत गुरु नानक का जन्म 1489 ई. में रावी तट पर तलवंडी (अब ननकाना) नामक गाँव में एक खत्री परिवार में हुआ था। उसका विवाह कम उम्र में ही हो गया था। वह अपने पिता के लेखा-कार्य के पेशे से लग जाए, इसलिए उसे फारसी की शिक्षा दी गई थी, लेकिन नानक की प्रवृति अध्यात्म की ओर थी और उसे साधु-संतों की संगति ज़्यादा अच्छी लगती थी। कुछ समय बाद उसे आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हुई और उसने संसार का त्याग कर दिया। उसने भजनों की रचना की जिन्हें वह रबाब नामक साज़ के साथ गाता था। उसका सेवक मर्दाना उसके साथ रबाब पर संगत करता था। कहते हैं, नानक ने भारत में दूर-दूर तक यात्रा की, बल्कि वह भारत से बाहर श्रीलंका तथा मक्का और मदीना भी पहुँचा। उसकी ओर बहुत सारे लोग आकृष्ट हुए और 1538 ई. में जब उसकी मृत्यु हुई तब तक उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी।

कबीर की तरह नानक ने भी इस बात पर ज़ोर दिया कि ईश्वर एक है और उसके नाम का जाप करने तथा उसमें लौ लगाने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है, चाहे वह किसी जाति, धर्म या पंथ का हो, परंतु नानक ने चरित्र और आचरण की शुद्धता को ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने की पहली शर्त बता कर उस पर विशेष बल दिया। इसी प्रकार उसने मार्गदर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता पर भी जोर दिया। कबीर की तरह उसने भी मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्राओं और विभिन्न धर्मों के अन्य औपचारिक विधि-विधानों की कड़ी आलोचना की। उसने मध्यम मार्ग की हिमायत की, जिसे अपनाकर आध्यात्मिक जीवन का गार्हस्थ्य जीवन के साथ मेल बैठाया जा सकता था।

नानक का इरादा किसी नए धर्म की स्थापना करने का नहीं था। उसके उदार दृष्टिकोण का उद्देश्य हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की खाई

को पाटना था ताकि शांति, सद्भावना और पारस्परिक आदान-प्रदान का वातावरण तैयार हो सके। कबीर का उद्देश्य भी यही था। आम हिंदुओं और मुसलमानों पर उनके प्रभावों के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। ऐसी राय ज़ाहिर की गई है कि धर्म के पुराने रूप लगभग ज्यों-के-त्यों जारी रहें। जाति-प्रथा में भी कोई बड़ा अंतर नहीं पड़ा। साथ ही, कालांतर से नानक के विचारों ने एक नए धर्म को जन्म दिया। यह था - सिख धर्म। कबीर के अनुयायी कबीर पंथियों तक सीमित रह गए। परंतु कबीर और नानक के कार्य के महत्व को अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। उन्होंने ऐसी विचार-धारा को जन्म दिया जो आगे की कई सदियों तक काम करती रही। सुविदित है कि अकबर के धार्मिक विचारों और नीतियों में इन दो महान् संतों की बुनियादी शिक्षाओं के काफी तत्व समाए हुए थे। इसके अलावा, जैसा कि हम पहले के अध्यायों में देख चुके हैं, अकबर के पूर्व भी कई शासकों ने इन नीतियों का अनुसरण किया था।

परंतु यह आशा करना बेकार था कि हिंदुत्व और इस्लाम, इन मुख्य धर्मों के रूढ़िवादी तत्व आसानी से मैदान छोड़ देंगे। जैसा कि हम आगे देखेंगे, रूढ़िवादी तत्व पुराने धर्मों की रक्षा के लिए एकजुट हो गए, मगर तब नई चुनौती का सामना करने के लिए पुराने धर्मों को पुनर्परिभाषित भी करना पड़ा। इस तरह अब दो मोटी-मोटी प्रवृत्तियाँ उभर चुकी थीं जिनमें से एक उदार और असांप्रदायिक थी तथा दूसरी अनुदार और परंपरावादी थी। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के दौरान जो बौद्धिक तथा धार्मिक विवाद चले उनके केंद्र में इन्हीं दो प्रवृत्तियों के बीच का संघर्ष विद्यमान था। सदियों से चले आ रहे इसी संघर्ष से मालूम होता है कि कबीर, नानक और उनकी जैसी सोच रखनेवाले अन्य लोगों के द्वारा सामने रखे गए विचारों तथा अवधारणाओं का प्रभाव कुछ मामूली नहीं रहा।

वैष्णव आंदोलन

कबीर और नानक के नेतृत्व में चलने वाले असांप्रदायिक आंदोलन के अतिरिक्त उत्तर भारत में विष्णु के दो अवतारों, राम और कृष्ण की उपासना को केंद्र बना कर भक्ति आंदोलन का विकास हुआ। कृष्ण की बाललीला और गोकुल की गोपिकाओं, खासतौर से राधा के साथ उसकी प्रेमलीला को विषय बनाकर पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों के कई कवियों ने उत्कृष्ट काव्यों की रचना की। उन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम का उपयोग परमात्मा से जीवात्मा के प्रेम के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करने वाले रूपक के तौर पर किया। आरंभिक सूफ़ियों की तरह चैतन्य ने संगीत गोष्ठी या ईश्वर नाम के कीर्तन को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य के अनुसार उपासना प्रेम और भक्ति एवं नृत्य और संगीत में निहित थी। उसकी दृष्टि में, प्रेम और भक्ति के भाव में डूबे संगीत और नृत्य ऐसी परमानंद की स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें ईश्वर (जिसे चैतन्य ने हरि कहा है) की उपस्थिति की अनुभूति जग सकती है। ऐसी उपासना सभी कर सकते थे चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों।

गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीरा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सूरदास तथा बंगाल और उड़ीसा में चैतन्य के काव्यों के गीतात्मक माधुर्य एवं प्रेमातिरेक ने सारी सीमाओं को तोड़ डाला - धर्म और जाति की सीमाओं को भी। ये संत अपने संप्रदाय में सभी जातियों और धर्मों के लोगों का स्वागत करने को तैयार थे। यह बात चैतन्य के जीवन में सबसे ज़्यादा उजागर हुई है। चैतन्य का जन्म नदिया जिले में हुआ था और उसकी आरंभिक शिक्षा भी वहीं हुई थी। जब वह बाईस वर्ष का हुआ तो वहाँ एक एकांतवासी व्यक्ति ने उसे कृष्णोपासना की दीक्षा दी। तब से उसके जीवन की धारा ही बदल गई। वह ईश्वरोन्माद से ग्रस्त भक्त के रूप में निरंतर कृष्ण नाम के कीर्तन में लीन रहता था। कहते हैं, चैतन्य ने पूरे भारत की यात्रा की थी और वह वृंदावन भी गया था। इसी यात्रा के दौरान उसने कृष्ण की उपासना को फिर से प्रतिष्ठित किया। लेकिन उसने अपना अधिकांश समय गया में व्यतीत किया। खास तौर से भारत के पूर्वी भाग में उसका बहुत प्रभाव पड़ा और काफी बड़ी संख्या में लोग उसके अनुयायी बन गए। इनमें कुछ मुसलमान और नीची जातियों के हिंदू भी शामिल थे। उसने हिंदू धर्म-ग्रंथों या मूर्तिपूजा का विरोध नहीं किया, यद्यपि उसे परंपरावादी नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त संत कवियों में से सभी हिंदू-धर्म के बृहत्तर ढाँचे के अंदर ही रहे। उनके दार्शनिक विश्वास वेदांती ऐक्यवाद का ही एक रूप था, जिसमें ईश्वर और उसकी सृष्टि की मूलभूत एकता पर ज़ोर दिया गया था। वेदांत दर्शन का प्रतिपादन कई विचारकों ने किया था, लेकिन जिस व्यक्ति ने संत कवियों को शायद सबसे अधिक प्रभावित किया वह था - वल्लभ। वल्लभ तेलंग ब्राह्मण था और उसका जीवन-काल पंद्रहवीं सदी का अंतिम और सोलहवीं सदी का प्रारंभिक हिस्सा माना जाता है।

इन संत कवियों का दृष्टिकोण मोटे तौर पर मानवतावादी था। उन्होंने मानवीय भावनाओं के उदात्ततम पक्षों पर बल दिया—प्रेम और सौंदर्य की भावनाओं पर। अन्य असांप्रदायिक विचारकों की तरह वे भी जाति-प्रथा को खास कमज़ोर करने में कामयाब नहीं हुए। फिर भी उन्होंने उसके दंश को कम किया और एकता के लिए एक ऐसा मंच तैयार किया जिसे बहुत से वर्गों के लोग समझ सकते थे।

संत कवियों के बुनियादी विचारों को इस काल के सूफी कवियों और संतों से बहुत अनुकूल उत्तर मिला। पंद्रहवीं सदी में महान् अरब दार्शनिक इब्न-ए-अरबी के अद्वैतात्मक विचारों को भारत में बहुत बड़े वर्ग के बीच लोकप्रियता मिली। इसके पूर्व इस कारण से अरबी को रूढ़िवादियों की कड़ी निंदा झेलनी पड़ी थी और उसके अनुयायियों को उनके जुल्म सहने पड़े थे। अरबी की मान्यता थी कि सभी जीव तत्वतः एक हैं और सब कुछ एक ही परमतत्व की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार, अरबी की राय में सभी धर्म समान थे। जीवमात्र की एकता का अरबी का सिद्धांत तौहीद-ए वजूदी के नाम से विख्यात है। भारत में यह सिद्धांत ज़ोर पकड़ता गया और अकबर के काल के पूर्व सूफी चिंतन का मुख्य आधार बन गया। योगियों और हिंदू संतों से संपर्क से एकात्मवाद की अवधारणा के प्रचार में बहुत मदद मिली। भारतीय सूफियों ने संस्कृत और हिंदी में अधिक रुचि लेना शुरू किया और उनमें से कुछ ने, जैसे मलिक मुहम्मद जायसी ने, अपनी कृति की रचना हिंदी की अवधी बोली में की। हिंदी

और अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे वैष्णव भजन सूफियों के हृदय-तंतुओं का स्पर्श फारसी कविता से कहीं अधिक करते थे। हिंदी भजनों का प्रयोग उनमें इतना लोकप्रिय हो गया था कि अब्दुल वहीद बेलग्रामी नामक एक प्रसिद्ध सूफी विचारक ने हकैक-ए-हिंदी शीर्षक से एक पुस्तक लिख डाली जिसमें उसने सूफी रहस्यवादी संदर्भ में कृष्ण, मुरली, गोपी, राधा, यमुना आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश की।

इस प्रकार पंद्रहवीं सदी और सोलहवीं सदी के प्रथम चरण में भक्ति आंदोलन से जुड़े संतों तथा सूफी संतों ने एक ऐसा सामान्य मंच तैयार कर दिया था जिस पर विभिन्न संप्रदायों और धर्मों के लोग एकत्र हो सकते थे और एक-दूसरे को समझ सकते थे।

यही अकबर के विचारों तथा उसकी तौहीद या सभी धर्मों की एकता की अवधारणा की तात्विक पृष्ठभूमि थी।

साहित्य तथा ललित कलाएँ

संस्कृत साहित्य

सूक्ष्मतर विचारों के वाहन और साहित्य की भाषा के रूप में विचाराधीन काल में भी संस्कृत का उपयोग होता रहा। सच तो यह है कि विभिन्न विषयों पर संस्कृत में जितनी अधिक रचनाएँ इस काल में की गईं उतनी शायद पहले के काल में भी नहीं की गई थीं। महान शंकर के बाद रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि ने अद्वैत दर्शन पर अपनी रचनाएँ संस्कृत में ही लिखीं। जिस तेज़ी से उनके विचारों का व्यापक प्रचार हुआ और देश के विभिन्न भागों में उन पर चर्चाएँ हुईं उससे मालूम होता है कि इस काल में भी संस्कृत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही। देश के अलग-अलग हिस्सों में, जिनमें मुसलमानों के शासन वाले हिस्से भी शामिल थे, संस्कृत की पीठों और विद्यालयों का एक जाल-सा बिछा हुआ था। इनमें नए शासकों ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया और ये अपना काम पूर्ववत् करते रहे। बल्कि दरअसल तो उनमें से अनेक संस्थाओं ने कागज़ के चलन का लाभ उठाकर पुराने पाठों की नकलें तैयार कीं जिनका खासा-अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ। इस प्रकार रामायण तथा महाभारत के जो सबसे पुराने पाठ उपलब्ध हैं उनमें से कई ग्यारहवीं या बारहवीं सदी और उसके बाद के हैं।

दर्शन के अलावा काव्यों, नाटकों और कथाओं की तथा आयुर्विज्ञान, खगोल-विज्ञान, संगीत आदि पर नई-नई कृतियों की रचना संस्कृत में होती रही। बारहवीं और सोलहवीं सदियों के बीच धर्मशास्त्रों (हिंदू कानून) पर बड़ी संख्या में टीकाएँ लिखी गईं और उनके सार-संकलन तैयार किए गए। विज्ञानेश्वर की महान् कृति मिताक्षरा को, जो हिंदू कानून की दो प्रमुख धाराओं में से एक है, बारहवीं सदी से पहले की रचना नहीं माना जा सकता। एक अन्य प्रसिद्ध भाष्यकार बिहार का चंडेश्वर था जिसका जीवन-काल चौदहवीं सदी था। अधिकतर कृतियों की रचना हिंदू शासकों के संरक्षण में दक्षिण में और उसके बाद बंगाल, मिथिला तथा पश्चिम भारत में हुई। जैनों ने भी संस्कृत साहित्य के विकास में योगदान किया। इनमें से सबसे प्रसिद्ध हेमचंद्र सूरि नाम का विद्वान था। विचित्र बात है कि इन कृतियों में भारत में मुसलमानों की मौजूदगी को ज़्यादातर नजरअंदाज़ कर दिया गया है। इस्लामी कृतियों या फ़ारसी साहित्य का संस्कृत में अनुवाद करने की कोई कोशिश नहीं की गई। इसका शायद एकमात्र अपवाद प्रसिद्ध फ़ारसी कवि जामी की लिखी यूसुफ़ और जुलेखा की प्रेमकथा थी। इस दुनिया से कटकर अपनी खोली में बंद हो जाने की भारतीयों की उस नई प्रवृत्ति का द्योतक माना जा सकता है जिसका जिक्र इससे पहले के काल में अलबरूनी ने किया था।

अरबी और फ़ारसी साहित्य

यद्यपि मुसलमानों द्वारा लिखा सबसे अधिक साहित्य अरबी में था जोकि उनके रसूल की भाषा थी और जिसका प्रयोग स्पेन से लेकर बगदाद तक लिखे जाने वाले साहित्य की भाषा के रूप में किया गया, तथापि भारत आनेवाले तुर्कों पर फारसी का गहरा प्रभाव था और यह भाषा दसवीं सदी से मध्य एशिया की साहित्य और प्रशासन की भाषा बन गई थी। भारत में अरबी का इस्तेमाल मुख्य रूप से इस्लाम के सैद्धांतिक तथा दार्शनिक पक्षों पर लिखने वाले विद्वानों तक सीमित रहा जिसका कारण यह था कि इन विषयों से संबंधित मूल साहित्य की रचना अरबी में हुई थी। विज्ञान तथा खगोल-शास्त्र की कुछ रचनाओं का भी अरबी में अनुवाद किया गया। कालांतर में भारतीय विद्वानों की सहायता से इस्लामी कानून के सार-संकलन फ़ारसी में तैयार करवाए गए। इनमें से सबसे प्रसिद्ध संकलन फिरोज़ तुगलक के शासनकाल में तैयार किए गए। लेकिन अरबी सार-संकलन भी तैयार किए जाते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध फतवा-ए-आलमगीरी अर्थात् औरंगजेब के शासनकाल में विधिवेत्ताओं के एक समूह द्वारा तैयार किया गया कानूनों का सार-संकलन है।

दसवीं सदी में तुर्कों के भारत आगमन के साथ इस देश में एक नई भाषा अर्थात् फारसी का प्रवेश हुआ। दसवीं सदी से ईरान और मध्य एशिया में फ़ारसी का जबर्दस्त पुनरुत्थान हुआ था और फ़ारसी के कुछ महानतम कवि - जैसे फिरदौसी और सादी का जीवनकाल दसवीं से चौदहवीं सदी के बीच पड़ता है तुर्कों ने आरंभ से ही इस देश में साहित्य तथा प्रशासन की भाषा के रूप में फारसी को अपनाया।

इस प्रकार लाहौर फ़ारसी भाषा के प्रयोग-प्रसार के प्रथम केंद्र के रूप में उभरा। फ़ारसी के इन प्रारंभिक भारतीय लेखकों में से कुछ की ही कृतियाँ शेष बची हैं। इनमें से दो-चार ऐसे हैं—जैसे कि मसूद साद सलमान - जिनके लेखन में हमें लाहौर के प्रति लगाव और प्रेम की भावना की झलक मिलती है। लेकिन इस दौर का सबसे उल्लेखनीय फ़ारसी लेखक अमीर खुसरो था। 1252 ई. में पटियाली (पश्चिमी उत्तर प्रदेश का बदायूँ जिला) में जन्मे अमीर खुसरो को भारतीय होने पर गर्व था। वह कहता है - "मैंने भारत की प्रशंसा दो कारणों से की है। एक तो यह कि हिंदुस्तान मेरी जन्मभूमि और हम सबका वतन है। वतन से प्यार करना एक अहम फ़र्ज़ है। .....हिंदुस्तान स्वर्ग के समान है। इसकी आबोहवा खुरासान से बेहतर है।.....यह हरा-भरा है और सालों भर फूलों से

लदा रहता है।......यहाँ के ब्राह्मण अरस्तू जैसे ज्ञानी हैं और विभिन्न क्षेत्रों में बहुत सारे विद्वान हैं"।

खुसरो के भारत-प्रेम से ज़ाहिर होता है कि तुर्क शासक वर्ग अब विदेशी शासक वर्ग की तरह व्यवहार करने को तैयार नहीं था और उनके तथा भारतीयों के बीच सांस्कृतिक संवाद की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

खुसरो ने ऐतिहासिक गाथाओं सहित कई काव्य-कृतियों की रचना की। उसने सारी काव्यात्मक शैलियों में प्रयोग किए और फ़ारसी की एक नई शैली की सृष्टि की, जो सबक-ए-हिंदी, अर्थात् हिंदुस्तान की शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई।

खुसरो ने भारतीय भाषाओं की भी प्रशंसा की है। इनमें हिंदी भी शामिल है जिसे वह हिंदवी कहता है। उसके कुछ छिट-पुट हिंदी पद भी मिले हैं। वैसे तो बहुधा उसे खालिक बारी की रचना का भी श्रेय दिया जाता है, लेकिन मालूम होता है, वह इसी नाम के कवि की कृति थी। खुसरो एक कुशल संगीतज्ञ भी था, और वह सूफ़ी संत निज़ामुद्दीन औलिया की धार्मिक संगीत गोष्ठियों (सभा) में भाग लेता था। कहते हैं, जिस दिन उसने अपने पीर निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु (1325 ई.) का समाचार सुना उसके अगले ही दिन उसने भी शरीर-त्याग कर दिया और उसे उसी अहाते में दफ़न किया गया जिसमें निज़ामुद्दीन औलिया को दफ़न किया गया था।

इस काल में भारत में काव्य-रचना के अलावा, फ़ारसी में इतिहास-लेखन की भी एक प्रबल शैली उभरी। ज़ियाउद्दीन बरनी, अफ़ीफ़ और इसामी इस काल के सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार थे।

फ़ारसी के माध्यम से भारत ने मध्य एशिया तथा ईरान के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध स्थापित किए। कालांतर से फ़ारसी न केवल प्रशासन और कूटनीति की भाषा बन गई, बल्कि उच्च वर्गों और उनके आश्रितों की भाषा भी बन गई। पहले तो ऐसा उत्तर भारत में हुआ, लेकिन बाद में दक्षिण में मुस्लिम सल्तनत के विस्तार तथा देश के विभिन्न भागों में मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ पूरे भारत में ऐसा ही हुआ।

इस प्रकार मुख्य रूप से संस्कृत और फ़ारसी ने राजनीति, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में देश के लिए संपर्क भाषाओं का काम किया। और साथ ही वे साहित्यिक कृतियों की भी भाषाएँ थीं। आरंभ में दोनों के बीच कोई खास आदान-प्रदान नहीं हुआ। ज़िया नक्शबी (1350 ई.) पहला व्यक्ति था जिसने संस्कृत कथाओं का फ़ारसी में अनुवाद किया। ये कथाएँ एक स्त्री को, जिसका पति लंबी यात्रा पर गया हुआ है, तोते के मुँह से कहलवाई गई हैं। फ़िरोज़ तुगलक के शासनकाल में लिखी फ़ारसी की यह रचना तूतीनामा बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई, इसका अनुवाद फ़ारसी से तुर्क भाषा में और यूरोपीय भाषाओं में भी किया गया। नक्शबी ने कामशास्त्र पर प्राचीन भारतीय रचना कोकशास्त्र का भी फ़ारसी में अनुवाद किया। फ़िरोज़ शाह के ही शासनकाल में आयुर्विज्ञान तथा संगीत पर संस्कृत रचनाओं का अनुवाद फ़ारसी में किया गया। कश्मीर के सुल्तान जैन-उल-आबिदीन ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति राजतरंगिणी और महाभारत का अनुवाद संस्कृत से फ़ारसी में करवाया। उसके निर्देश पर आयुर्विज्ञान तथा संगीत पर भी संस्कृत कृतियों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया।

क्षेत्रीय भाषाएँ

इस काल में कई क्षेत्रीय भाषाओं में भी उच्च कोटि के साहित्य की रचनाएँ की गईं। इनमें से कई भाषाओं, जैसे हिंदी, बंगला और मराठी के मूल का उद्भव आठवीं सदी में या उसके आसपास किया जाता है। कुछ दूसरी भाषाएँ, जैसे तमिल, इससे बहुत पुरानी थीं। चौदहवीं सदी के आरंभ में लिखते हुए अमीर खुसरो ने क्षेत्रीय भाषाओं के अस्तित्व का उल्लेख किया है और कहा है कि "पुराने ज़माने से ही जीवन के आम प्रयोजनों के लिए हर तरह से इन भाषाओं का इस्तेमाल किया जाता रहा है।" इन भाषाओं का परिपक्वता की स्थिति प्राप्त करना और साहित्यिक कृतियों के लिए इनका उपयोग मध्यकाल की एक उल्लेखनीय विशेषता माना जा सकता है। इसके कई कारण थे। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में ह्रास होने के साथ शायद संस्कृत की अहमियत में भी कुछ कमी आई। भक्त संतों द्वारा आम लोगों की भाषा का प्रयोग, निस्संदेह, इन भाषाओं के उत्थान का एक बहुत बड़ा कारण था। सच तो यह है कि देश के कई हिस्सों में इन प्रारंभिक संतों ने इन भाषाओं को साहित्यिक प्रयोजनों से प्रयोग किया जानेवाला रूप दिया। मालूम होता है, तुर्कों के शासन की स्थापना के पूर्व कई क्षेत्रीय राज्यों में संस्कृत के अलावा तमिल, कन्नड़, मराठी आदि क्षेत्रीय भाषाएँ प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाई जाती थीं। यह परंपरा तुर्क शासन के अधीन भी जारी रही होगी क्योंकि हमें दिल्ली सल्तनत द्वारा हिंदी जानने वाले राजस्व लेखाकारों की नियुक्ति का उल्लेख देखने को मिलता है। बाद में जब दिल्ली सल्तनत बिखर गई तो कई क्षेत्रीय राज्यों में फ़ारसी के अतिरिक्त स्थानीय भाषाओं का भी प्रशासन में प्रयोग होता रहा। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में तेलुगु में साहित्य का विकास विजयनगर राज्य के संरक्षण में हुआ। मराठी बहमनी सल्तनत की एक प्रशासनिक भाषा थी और बाद में बीजापुर दरबार की भी भाषा यही रही। कालांतर से जब ये भाषाएँ विकास की एक खास मंज़िल तय कर चुकी थीं तो कुछ मुस्लिम शासकों ने साहित्यिक प्रयोजनों के लिए भी उन्हें प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के लिए बंगाल के नुसरत शाह ने महाभारत और रामायण का बंगला में अनुवाद करवाया। उसी के संरक्षण में मालाधर बसु ने भागवत का भी बंगला में अनुवाद किया। नुसरत शाह द्वारा बंगला कवियों को दिए गए प्रोत्साहन का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं।

अपने समाओं में सूफ़ी संतों द्वारा भक्ति काव्य के उपयोग की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। जौनपुर में मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सूफ़ी संतों ने अपनी रचनाएँ अवधी में लिखीं। उनके माध्यम से सूफ़ी विचारों को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया जिसे आम लोग आसानी से समझ सकते थे। उन्होंने मसनवी आदि कई फ़ारसी शैलियों को लोकप्रिय बनाया।

ललित कलाएँ

पारस्परिक समझ और एकीकरण की प्रवृत्तियाँ धार्मिक विश्वासों और आचार व्यवहार, स्थापत्य एवं साहित्य के क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि ललित कलाओं, खासकर संगीत के क्षेत्र में भी दिखाई देती हैं। तुर्क भारत आए तो अपने साथ संगीत की समृद्ध अरब विरासत लेकर आए थे। इस विरासत

को ईरान और मध्य एशिया में और भी समृद्ध किया गया था। तुर्क लोग अपने साथ रबाब और सारंगी जैसे कई वाद्य यंत्र तथा नई संगीत पद्धतियाँ और नियम भी लाए थे। बगदाद के दरबार में भारतीय संगीत तथा भारतीय संगीतज्ञों ने शायद वहाँ संगीत के विकास को प्रभावित किया था। लेकिन दोनों के बीच नियमित और व्यवस्थित संपर्क सल्तनत के अधीन भारत में आरंभ हुआ। हम अमीर खुसरो का ज़िक्र कर चुके हैं। खुसरो को नायक का खिताब दिया गया था। जिसका मतलब यह था कि वह संगीत के सिद्धांत और उसके व्यावहारिक प्रयोग में भी पारंगत था। उसने फारसी-अरबी मूल के कई राग जैसे एमन, घोर आदि, भारतीय संगीत में दाखिल किए। उसे सितार को ईजाद करने का श्रेय भी दिया जाता है यद्यपि इसके समर्थन में हमें कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। वैसे तो तबले के आविष्कार का श्रेय भी उसी को दिया जाता है, लेकिन जान पड़ता है, उसका विकास सत्रहवीं सदी के अंत या अठारहवीं सदी के आरंभ में हुआ।

संगीत के क्षेत्र के एकीकरण की प्रक्रिया फिरोज के अधीन जारी रही। उसी के शासनकाल में संगीत पर नायक भारतीय ग्रंथ रागदर्पण का फारसी में अनुवाद किया गया। संगीत गोष्ठियाँ सूफी संतों के खानकाहों से निकलकर अमीरों के महलों तक पहुँची। जौनपुर का सुल्तान हुसैन शर्की संगीत का महान् संरक्षक था। सूफी संत पीर बोधन को उस काल का दूसरा महान् संगीतज्ञ माना जाता है। एक अन्य क्षेत्रीय राज्य ग्वालियर में भी संगीत को भरपूर प्रश्रय मिला। ग्वालियर का राजा मानसिंह बहुत बड़ा संगीत प्रेमी था। मान कौतूहल, जिसमें मुसलमानों द्वारा भारतीय संगीत में दाखिल की गईं सभी पद्धतियों का वर्णन है, उसी के तत्वावधान में तैयार किया गया था। हमें यह नहीं मालूम कि किस समय उत्तर भारत की संगीत पद्धतियाँ दक्षिण भारत की पद्धतियों से अलग होने लगीं। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यह अलगाव बहुत हद तक उत्तर भारत के संगीत में फारसी-अरबी पद्धतियों, रागों और ग्रामों के समावेश का परिणाम था। कश्मीर राज्य में फारसी संगीत से भरपूर तौर पर प्रभावित एक विशिष्ट संगीत शैली का विकास हुआ।

जौनपुर को जीतने के बाद सिकंदर लोदी ने संगीत को संरक्षण देने की परंपरा का भरपूर पालन किया। बाद में महान् मुगल बादशाहों ने भी इस परंपरा को अपनाया।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों और अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए:
   अरबेस्क, खानकाह, पीर, मुरीद, वली, सन्त, नाथपंथी।
2. सल्तनत काल में उत्तर भारत में स्थापत्य के विकास का वर्णन कीजिए। हर दौर के स्थापत्य की खास विशेषताओं का भी उल्लेख कीजिए।
3. सूफी और भक्ति उपासनाओं में समानताओं का निर्देश कीजिए। लोगों के जीवन पर सूफी आंदोलन के

   प्रभाव का वर्णन कीजिए।
4. चिश्ती और सुहरावर्दी संतों के विचारों में मुख्य अंतर क्या थे?
5. भक्ति आंदोलन के विकास का वर्णन कीजिए। भक्ति उपासना के मूलभूत विचारों और विश्वासों का भी उल्लेख कीजिए।
6. लोगों में एकता को बढ़ावा देने के कार्य में कबीर और नानक के योगदानों का वर्णन कीजिए।
7. वैष्णव आंदोलन के विकास और उसमें चैतन्य की भूमिका का वर्णन कीजिए।
8. सल्तनत काल में संस्कृत और फारसी साहित्य के विकास का वर्णन कीजिए।
9. साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में अमीर खुसरो के योगदान का वर्णन कीजिए।
10. सल्तनत काल में क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का वर्णन कीजिए।
11. सल्तनत काल में संगीत के विकास का वर्णन कीजिए।
12. ईरान और भारत की संस्कृतियों का किस प्रकार सल्तनत काल की संस्कृति में समाहार हुआ, स्पष्ट कीजिए।
13. भारत के मानचित्र की रूपरेखा पर निम्नलिखित व्यक्तियों के जन्म स्थानों को दिखाइये
    रामानंद, कबीर, नानक, चैतन्य, अमीर खुसरो।
14. 1000-1500 ई. में लिखी ऐतिहासिक पुस्तकों की एक सूची तैयार कीजिए। इनमें से कुछ कृतियों पर टिप्पणियाँ भी तैयार कीजिए जिनमें इतिहासकारों के नामों, उनके लिखे जाने के काल, उनकी भाषा तथा उनमें वर्णित काल का उल्लेख कीजिए।
15. "सल्तनत काल में सांस्कृतिक विकास पर एक परियोजना तैयार कीजिए। परियोजना में निम्न कार्यों का समावेश किया जा सकता है:
    (क) साहित्य, कला और स्थापत्य के विकास पर आलेख।
    (ख) इस काल में बनवाई गई इमारतों की तस्वीरों का एलबम तैयार करना।